आदिवासी उपन्यास लेखन की परम्परा

चंचल,

शोधछात्रा–खरडीहा महाविद्यालय, खरडीहा–गाजीपुर,
सम्बद्ध– वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर (उ.प्र.)

आदिवासी केन्द्रित उपन्यास लेखन की परम्परा हिन्दी साहित्य में स्वतन्त्रता पूर्व से ही दृष्टिगत होती है। जब हम आदिवासी जीवन सम्बन्धी उपन्यासों पर ऐतिहासिक दृष्टि डालते हैं तो सर्वप्रथम जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का नाम आता है। उन्होंने सन् 1899 में 'बसंतमालती' उपन्यास की रचना किया जो मुंगेर जिले के मलयपुर क्षेत्र में निवास करने वाले गरीब मल्लाह आदिवासी पर केन्द्रित है। उसके बाद 1907 ई. में अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'अधखिला फूल' में आदिवासी जीवन की कुछ झलकियाँ दिखायी। इनके अतिरिक्त ब्रजनंदन सहाय की 'अरण्यबेला' 1904 ई. और मन्नन द्विवेदी का 'रामलाल' 1904 ई. में भी आदिवासी जीवन के कुछ अंशों का चित्रण मिलता है। वास्तव में आदिवासी जीवन पर आधारित उपन्यास रामचीज बल्लभ कृत 'वन विहंगिनी' ही प्रतीत होता है जो संथाल परगना के कोल आदिवासी युवतियों की दशा एवं दिशा पर आधारित है। कृतिकार ने इस उपन्यास में आदिवासी जीवन के विभिन्न पहलुओं को प्रकाशित करने में सफलता प्राप्त की है।

''प्रारम्भिक हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी जीवन की सही तस्वीर रामचीज की 'वन विहंगिनी' (1909) कृति में दृष्टिगत होती है। संथाल परगना के आदिवासी क्षेत्र की कोल कुमारियों का जीवन–संघर्ष, उनकी वेष–भूषा, उनकी भाषा, उनका रहन–सहन, उनके देवी–देवता, उनकी संस्कृति, उनके पर्व–त्यौहार एवं उससे निर्मित मानसिकता का अच्छी तरह से अध्ययन प्रस्तुत हुआ है।''[1]

तत्पश्चात् रामदीन पाण्डेय ने सन् 1930 ई. में 'कोरा कुमारी' नामक उपन्यास की रचना की, जिसके केन्द्र में भी एक आदिवासी युवती ही है लेकिन अफसोस की बात यह है कि हिन्दी साहित्य के चिन्तकों, समीक्षकां एवं आलोचकों द्वारा इन उपन्यासों को दर किनार कर दिया गया। इन उपन्यासों को आँचलिक श्रेणी के उपन्यासों में स्थापित करने के कारण इन पर विभिन्न दृष्टिकोण से चर्चा–परिचर्चा या समीक्षा करने की कोशिश नहीं हुई। परिणामस्वरूप वर्तमान के आदिवासी केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों की तरह उनका मूल्यांकन न हो सका, जिस तरह से आजकल समीक्षा की जा रही है। वर्तमान समय के उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में आदिवासी जीवन के मर्म को ढूँढ निकाला है कि घने जंगलों, पहाड़ों एवं दुर्गम स्थानों पर निवास करने वाले आदिवासी का वास्तविक जीवन दर्शन क्या है? उसके आस–पास घटित होने वाली घटनाओं ये रू–ब–रू कराने के साथ–साथ आदिवासी जीवन एवं उनकी सामाजिक समस्याओं की वास्तविकता का अंकन यथार्थवत् प्रस्तुत किये हैं।

आधुनिक काल में आदिवासी जीवन का इतिहास एवं वर्तमान दोनों ही उपन्यास विधा की आधारशिला बन गयी है। परिणामतः आज 21वीं सदी के हिन्दी साहित्य में आदिवासी विमर्श या आदिवासी साहित्य दिन–प्रतिदिन उन्नति की ओर उन्मुख है। वर्तमान समय में आदिवासी जीवन पर लिखित उपन्यास हिन्दी साहित्य का एक प्रमुख अंग बन चुका है। आदिवासी साहित्य में एक ओर आदिवासी चेतना की पहल है तो दूसरी तरफ

इनके जीवन में दिन–प्रतिदिन पनप रही अनेक जटिल समस्याओं का दृश्यांकन है। आदिवासी समाज की सबसे बड़ी समस्या विस्थापन की रही है जिसके फलस्वरूप उन्हें अपनी पुश्तैनी जमीन के साथ–साथ सभ्यता एवं संस्कृति से दूर होना पड़ रहा है।

डॉ. पण्डित बन्ने 'अपनी बात' में कहते हैं– ''भारतीय साहित्यकारों ने आदिवासी की सभ्यता, शोषण, अस्मिता की पहचान, आँचलिक भाषा आदि को महत्त्व दिया है। भारत में आदिवासी समाज, संस्कृति और साहित्य का संकट तो सदियों से ही रहा है, अब तो अस्तित्व का संघर्ष जारी है। नस्सलवाद, विस्थापन, जल, जंगल, जमीन से बेदखल होने के प्रति आदिवासी चेतना जगी है। कारखानों का विकास हो या खनिज अयस्कों की खादानों का, बहुउद्देश्यीय परियोजनाओं का निर्माण हो या मल्टीप्लेक्स मॉल्स हो आदिवासी ही विस्थापित हुआ है।''[2]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उपन्यासकारों में कुछ उनकी अस्मिता एवं अस्तित्व को बचाने के लिए तो कुछ उन्हें मुख्यधारा में जोड़ने के साथ–साथ उनकी सभ्यता एवं संस्कृति को संजोये रखने के लिए प्रयास करते दिखाई देते हैं। इस प्रकार भी स्पष्ट किया जा सकता है कि भूमण्डलीकरण, बाजारीकरण, निजीकरण, उदारीकरण, धर्मीकरण और आधुनिकीकरण के इस युग में अगर कोई समाज विकास के मुख्यधारा से वंचित है तो वह आदिवासी समाज ही दिखता है। आदिवासी समाज के दयनीय स्थिति का कारण आज भी उनका पिछड़ा एवं सुख–सुविधाओं से दूर होना है।

आधुनिकता और भूमण्डलीकरण के दौर में आदिवासी केन्द्रित उपन्यासों का सृजन निम्नलिखित प्रमुख बिन्दुओं को दृष्टि में रखकर इन्हीं आधारों पर किया जा रहा है–

1. आदिवासी सभ्यता और संस्कृति
2. बेकारी एवं बंधुआ मजदूरी
3. धर्मान्तरण से प्रभावित
4. चेतना एवं विद्रोहपरक
5. विकास एवं विस्थापन
6. वैश्वीकरण से प्रभावित
7. आदिवासी स्त्रियों की दिश एवं दशा
8. स्वतन्त्रतापूर्व एवं पश्चात् की आदिवासी स्थिति
9. सरकारी कर्मचारी, साहूकारों, जमींदारों एवं वर्चस्ववादियों द्वारा शोषण एवं अत्याचार
10. आदिवासी ऐतिहासिकता
11. नक्सलवाद और माओवाद जैसी गम्भीर समस्याएँ
12. विकास की नीतियाँ एवं उनका दुरुपयोग

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि आदिवासी केन्द्रित हिन्दी उपन्यासकारों ने आदिवासी जीवन के सम्पूर्ण परिवेशों एवं परिदृश्यों को अलग–अलग स्थानीय समस्याओं एवं प्रवृत्ति के आधार पर अंकन किया है। देश के विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले आदिवासियों की समस्याएँ उनकी क्षेत्रीय प्रवृत्ति और सत्ता के अनुरूप अलग–अलग होती है। कुछ आदिवासी समुदायों की जनसंख्या दिन–प्रतिदिन काफी मात्रा में बढ़ रही है, जैसे– भील और गोंड, तो कुछ आदिवासी समुदायों की जनसंख्या लगातार गिरती दिखाई दे रही है, जैसे– अंदमानी, ओंगी और टोडा आदि। ईसाईयों के धर्मान्तरण के कारण आदिवासियों के धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन में भूचाल सा आ गया है। उनकी समझ में यह नहीं आता कि हम किस दिशा की ओर हैं और हमें कहाँ जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में कबीर की एक पंक्ति सही साबित

होती है कि– ''दो पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय।''

आज आदिवासी समाज धर्मान्तरण के कारण द्वन्द्वात्मक जीवन के अवसाद से मुक्त न होकर छटपटाहट भरा जीवन जीने को मजबूर है। ''भूमण्डलीकरण, बाजारीकरण, बढ़ता हुआ उपभोक्तावाद, सत्ता, राजनीति और धर्म के बदलते समीकरण, बढ़ती हुई साम्प्रदायिकता, भ्रष्टाचार, नारी की, दलितों की, आदिवासियों की चेतना के स्वर आदि कई मुद्दे समकालीन उपन्यासों के लिए चुनौती बने हुए हैं, जिन्हें समकालीन रचनाकार उद्घाटित कर रहा है।''[3]

यदि ऐसा कहा जाय कि आदिवासी उपन्यास विभिन्न अलग–अलग पहलुओं पर आधारित हैं तो अतिशयोक्ति न होगी। कुछ उपन्यास ऐतिहासिकता पर तो कुछ राजनीति पर, तो किसी में आदिवासी जीवन की सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक वर्तमान जीवन की अभिव्यक्ति मिलती है। वर्तमान समय में विस्थापन एक ऐसी समस्या है जिससे वह केवल अपने जड़ से ही नहीं उखड़ता बल्कि वह अपनी परम्परागत जीविकोपार्जन के साधन से भी दूर हो जाता है, जिसके कारण आदिवासी पलायन के लिए विवश हो जाते हैं। पलायन का सीधा अर्थ उनके सदियों की आधार रही भाषा और पारम्परिक संस्कृति से दूर होना है। परिणामस्वरूप वे बेकारी, बेरोजगारी, शोषण एवं अत्याचार जैसी अनेक गम्भीर समस्याओं के शिकार हो जाते हैं। इस तरह की वर्तमान कालीन समस्याओं को आदिवासी उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों के माध्यम से उजागर करने का कार्य किया है। अतः समकालीन उपन्यासकारों ने सदियों से चले आ रहे हाशिये के आदिवासी समाज की विसंगतियों एवं विभिन्न समस्याओं को उजागर कर आम जनमानस के सामने लाकर खड़ा कर दिया है।

हिन्दी साहित्य के आलोचकों एवं समीक्षकों ने आंचलिक उपन्यासों में ज्यादातर उपन्यासों को आदिवासी जीवनाधारित उपन्यास माना है। काफी समय तक आंचलिकता की दृष्टि से देखने के कारण आदिवासी जनजीवन को जोड़कर पूर्णतया समीक्षा न हो सकी। रामदरश मिश्र कहते हैं, ''आँचलिक उपन्यास' अँचल के समग्र जीवन का उपन्यास है। तो प्रकाश वाजपेयी ने जनपद के समग्र जीवन को प्रमुखता देकर, आँचलिक उपन्यासों में आदिवासी अथवा आदिम जायितों का चित्रण होना ऐसा माना है।''[4] वस्तुतः ज्यादातर आँचलिक उपन्यास आदिवासी जीवन को केन्द्र में रखकर लिखे गये जिनमें 'रथ के पहिए', 'जंगल के फूल', 'शैलूष', 'कब तक पुकारूँ', 'सागर', 'लहरें और मनुष्य' तथा 'मैंला आँचल' आदि प्रमुख हैं। इस सम्बन्ध में गोपाल राय लिखते हैं– ''आजादी के बाद आदिवासियों के जीवन का चित्रण करने वाले प्रथम उपन्यासकार देवेन्द्र सत्यार्थी हैं, जिन्होंने 'रथ के पहिये' में मध्य प्रदेश के गौड़ जनजाति के जीवन यथार्थ का प्रमाणिक और संवेदना सिंचित अंकन किया है।''[5] जिससे ऐसा लगता है कि आदिवासी केन्द्रित हिन्दी उपन्यास किसी एक विशेष अंचल का उपन्यास होता है जिसमें उस अंचल की समग्रता निहित होती है। स्वतन्त्रता के पश्चात् आदिवासी जीवन पर आधारित उपन्यासों की सृजन में वृद्धि हुई और दिन–ब–दिन यह अपने क्षेत्र को विस्तारित करता गया।

प्रो. वीर भारत तलवार आदिवासी साहित्य पर मजबूत, गहरी और प्रभावी जानकारी रखने वाले प्रभावशाली साहित्यकार हैं। वे कहते हैं कि आदिवासी साहित्य के चार श्रेणियाँ दिखाई देती हैं– ''पहली श्रेणी के अन्तर्गत वे साहित्यकार आते हैं जो आदिवासी इलाकों की दो–चार ट्रिप लगाकर कुछ जानकारियाँ नोट करके कहानी या उपन्यास लिखने लगते हैं।''[6] इस श्रेणी के उपन्यासों में योगेन्द्र सिन्हा की 'वन लक्ष्मी' और 'वन के मन में' को रख सकते हैं। प्रो. तलवार का दूसरी श्रेणी के उपन्यासों के सम्बन्ध में कहना है कि– ''दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत वे साहित्यकार

आते हैं जो आदिवासियों के आर्थिक शोषण एवं राजनीतिक सवालों को आधार बनाकर आदिवासियों के प्रति सहानुभूतिक भाव व वामपंथी दृष्टिगोण से साहित्य लिखते हैं। ऐसी रचनाओं का उद्देश्य आदिवासी समाज के अन्दरूनी पक्षों या उनकी संस्कृति को चित्रित करना उतना नहीं, जितना आदिवासियों के आर्थिक राजनैतिक सवालों को सामने लाने हैं।''[7] इस श्रेणी के उपन्यासकार संजीव के 'जंगल जहाँ शुरू होता है', 'धार', 'पाँव तले की दूब', 'सावधान नीचे आगे है', मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'अल्मा कबूतरी', 'इदन्नमम', मनमोहन पाठक का उपन्यास 'गगन घटा घहरानी' तथा रणेन्द्र के उपन्यास 'ग्लोबाल गाँव के देवता' व 'गायब होता देश' आदि को स्थान दे सकते हैं। प्रो. वीर भारत तलवार का हिन्दी साहित्य में तीसरी श्रेणी के आदिवासी जीवन आधारित उपन्यासों के बारे में मानना है कि– ''तीसरी श्रेणी के अन्तर्गत वे रचनाकार आते हैं जो आदिवासी समाज में वर्षों जीवन बिताते हैं और उनके करीब रहते हुए उनकी मानसिकता, अन्दरूनी तनावों व आध्यात्मिक बनावटों, मान्यताओं को भी जानने के साथ उसकी गहरी समझ रखते हैं।''[8] इस श्रेणी में हम पुन्नी सिंह का उपन्यास 'सहराना', श्री प्रकाश मिश्र के उपन्यास 'जहाँ बाँस फूलते हैं' और 'रूपतिल्ली की कथा' को रख सकते हैं। प्रो. तलवार चौथे श्रेणी में ऐसे रचनाकारों की रचनाओं को रखते हैं जो आदिवासी हों अर्थात् आदिवासी समाज में जन्म लिया हो और उसी विशेष समुदाय एवं क्षेत्र में पला–बढ़ा हो तथा अपने विषय पर स्वानुभूति के आधार पर अपने समाज का चित्रण करता है। आदिवासी जनजीवन और सामाजिक विसंगतियों का सबसे प्रमाणिक रूप इनकी रचनाओं में प्राप्त होता है। चौथी श्रेणी के प्रमुख रचनाकारों में हरिराम मीणा, रमेशचन्द मीणा, रामदयाल मुंडा, गंगासहाय मीणा, निर्मला पुतुल, महिपाल भूरिया, पीटर पॉल एक्का, वाल्टर भेंगरा तरूण, अनुज लुगुन, जनार्दन गोंड, हेराल्ड एस. तोपनों आदि हैं।

उपर्युक्त के अलावा आदिवासी साहित्य एवं आदिवासी जीवन के स्थिति एवं परिस्थिति की जानकारी हेतु हिन्दी के अन्य साहित्यकारों की रचनाएँ इस प्रकार हैं– देवेन्द्र सत्यार्थी कृत 'रथ के पहिये' (1952 ई.), रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ' (1957 ई.), शिवप्रसाद सिंह का 'शैलूष' (1986 ई.), वृन्दावनलाल वर्मा का 'कचनार' (1947 ई.), योगेन्द्रनाथ सिन्हा का 'वन लक्ष्मी' (1956 ई.), देवेन्द्र सत्यार्थी का 'ब्रह्मपुत्र' (1956 ई.), गोपीनाथ महांती का 'अमृत संतान', प्रतिभाराय का 'आदिभूमि', भगवानदास मोरवाल का 'काला पहाड़' (1999 ई.), 'रेत', तेजिंदर का 'काला पादरी' (1916 ई.), जयप्रकाश भारती का 'कोहरे में खोये चाँदी के पहाड़', वीरप्पा मोइली का 'कोट्टा', मधु कांकरिया का 'खुले गगन के लाल सितारे', हबीब कैफी का 'गमना', राजेन्द्र मोहन भटनागर का 'दंश', बालाशौरी रेड्डी का 'धरती मेरी माँ', श्यामबिहारी श्यामल का 'धपेल', राजेन्द्र अवस्थी का 'जंगल के फूल' (1969 ई.), 'सूरज किरण की छाँव में' (1958 ई.), महाश्वेता देवी का 'जंगल के दावेदार' (2008 ई.), 'अग्नि गर्भ', 'चोटि मुंडा और उसका तीर', श्री प्रकाश मिश्र का 'जहाँ बाँस फूलते हैं' (1997 ई.), राकेश कुमार सिंह का 'जो इतिहास में नहीं है', 'पठार का कोहरा', शानी का 'नदी और सीपियाँ;, 'साँप और सीढ़ी' (1960 ई.), उदयशंकर भट्ट का 'सागर लहरें और मनुष्य' (1964 ई.), नारायण का 'पहाड़िन', वीरेन्द्र जैन का 'डूब' (1991 ई.), 'पार' (1994 ई.), मणि मधुकर का 'पिंजरे में पन्ना' (1981 ई.), मधुकर सिंह का 'बाजत अनहद ढोल;, श्रवण कुमार गोस्वामी का 'भारत बनाम इण्डिया', संजीव बख्शी का 'भूलन कांदा', विनोद कुमार का 'समर शेष है', 'मिशन झारखण्ड', सुखदेव दूबे का 'मनुष्य मंथन', श्याम व्यास का 'मादल का दर्द', श्याम परमार का 'मोरझाल', रमणिका गुप्ता का 'सीता', 'मौसी', हिमांशु जोशी का 'सुराज', 'कगार की

आग' (1978 ई.), 'महासागर' (1973 ई.), कृष्णचन्द्र शर्मा भिक्खु का 'रक्त यात्रा', बलवंत सिंह का 'राका की मंजिल', सुरेशचन्द श्रीवास्तव का 'वनतरी', राजेन्द्र मोहन भटनागर का 'मगरी मानगढ़', बटरोही का 'महर ठाकुरों का गाँव' (1984 ई.), सोहन शर्मा का 'मीणा घाटी', श्रवण कुमार गोस्वामी का 'हस्तक्षेप', राजीव रंजन प्रसाद का 'आमचों बस्तर' (2012 ई.), महुआ माजी का 'मरंग गोड़ा नीलकण्ट हुआ' (2012 ई.) आदि हैं।

ये उपन्यास किसी विशेष जाति या समुदाय का वर्णन न करके प्रत्येक उपन्यास भिन्न–भिन्न क्षेत्रों, समुदायों एवं जाति विशेष पर केन्द्रित है। अतः किसी एक उपन्यास के माध्यम से हम किसी एक ही जाति विशेष, स्थान, समुदाय के आदिवासियों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकते हैं इसलिए आदिवासी जीवन के वैश्विक परिवेश को समझने हेतु सभी उपन्यासों की भली–भाँति अध्ययन करना आवश्यक है। विद्याभूषण जी ने साहित्य का विभाजन या मूल्यांकन करते हुए लिखते हैं– ''समग्रता में देखना चाहें तो आदिवासी अस्मिता के विविध पहलुओं को किसी एक उपन्यास की कथा परिधि में खोजना उस कृति के साथ ज्यादती होगी।''[9] मेरे विचार से किसी भी जाति, समुदाय या वर्ग विशेष की पूर्ण जानकारी हेतु उस क्षेत्र से सम्बन्धित साहित्य एवं आलेखों का अनुशीलन अति आवश्यक है तब कहीं जाकर हम उस विशेष वातावरण के अच्छे जानकार बन सकते हैं।

सन्दर्भ सूची

1. सं. डॉ. एम. फिरोज अहमद, वाङ्मय, आदिवासी विशेषांक–2 (त्रैमासिक हिन्दी पत्रिका), अलीगढ़, अक्टूबर 2013–मार्च 2014, पृ. 11
2. डॉ. पंडित बन्ने, हिन्दी साहित्य में आदिवासी विमर्श, अमन प्रकाशन, कानपुर, 2014, पृ. 7
3. डॉ. शिवाजी देवरे, डॉ. मधुखराटे, समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श, विद्या प्रकाशन, कानपुर, 2013, पृ. 130
4. डॉ. भरत सागरे, हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में आदिवासी जनजीवन, दिव्य डिस्ट्रीब्यूटर्स, कानपुर, पृ. 20
5. गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृ. 428
6. सम्पादक शैलेन्द्र सागर, कथादेश, अक्टूबर, 2011, पृ. 12
7. उपर्युक्त, पृ. 12
8. उपर्युक्त, पृ. 12
9. उपर्युक्त, पृ. 77